International Journal of Multidisciplinary Research and Development

International Journal of Multidisciplinary Research and Development

Volume: 2, Issue: 5, 566-569
May 2015
www.allsubjectjournal.com
e-ISSN: 2349-4182
p-ISSN: 2349-5979
Impact Factor: 4.342

राजेश कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
राजकीय महाविद्यालय, माँट,
मथुरा, उत्तर प्रदेश, भारत।

Correspondence
राजेश कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
राजकीय महाविद्यालय, माँट,
मथुरा, उत्तर प्रदेश, भारत।

झोपड़ी से राजभवन की राजनीति

राजेश कुमार

सरांश
समकालीन साहित्यिक विमर्शों में दलित साहित्य का विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान है। इसने भारतीय मानव जीवन के व्यापक क्षेत्र को गहराई से प्रभावित किया है। 'झोपड़ी से राजभवन' अरुणाचल प्रदेश के पूर्व राज्यपाल माता प्रसाद की ऐसी आत्मकथा है जिसमें न केवल तत्कालीन समाज की विसंगतियों का चित्रण है,बल्कि राष्ट्रीय,राज्यस्तरीय एवं स्थानीय राजनीतिक षड्यन्त्रों का भी प्रामाणिक वर्णन है। राजनीतिक दलों द्वारा की जाने वाली छद्म दलित राजनीति का रहस्योद्घाटन भी इस आत्मकथा द्वारा होता है।

मूल शब्द : विमर्श, दलित, समकालीन, विसंगति, राजनीति ।

प्रस्तावना
आत्मकथा इतिहास–ग्रंथ नहीं है, लेकिन अगर इस दृष्टि से उसका उपयोग करना चाहें तो वह इतिहास का एक महत्वपूर्ण साहित्यिक स्रोत सिद्ध होगी; बशर्ते उसमें से आत्मकथाकार की आत्ममोहग्रस्त वैयक्तिकता को छानकर अलग कर दिया जाय। ऐसा करना बहुत कठिन नहीं है। ऐसी दृष्टि समय–समय पर स्वयं अपनी ही स्थापनाओं के विरुद्ध बयान और प्रमाण देती रहती है; बस उन बयानों को देखने–सुनने–समझने और प्रमाणों का यथोचित उपयोग करने की ज़रूरत है।
दलित आत्मकथाएँ भारतीय समाज में व्याप्त जातिवाद, भेद–भाव, असमानता, शोषण, अन्याय–अत्याचार और इन सबके विरुद्ध संघर्ष के माध्यम से समता–स्वतंत्रता–बंधुता पर आधारित समाज की स्थापना के प्रयासों का दस्तावेज हैं। सामाजिक–सांस्कृतिक स्थितियों के साथ–साथ इनमें धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक स्थितियों और गतिविधियों का भी उल्लेख मिलता है। हिन्दी साहित्य के आलोचक प्रायः दलित आत्मकथाओं की राजनैतिक उदासीनता की ओर ध्यान आकृष्ट कराते रहे हैं। हालांकि उनमें यह अभाव उस स्तर तक नहीं है जिस स्तर तक उनकी आलोचना की जाती है। दलित आत्मकथाकारों ने यथाप्रसंग राजनीतिक मुद्दों की भी चर्चा की है। इसी के समानान्तर इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि आत्मकथाएँ व्यक्तिगत होती हैं। केवल इस कारण से कि शेष समाज के लिए उनमें जगह कम है, उन पर संकीर्णता का आरोप नहीं लगाया जाना चाहिए। इसके अलावा जो आत्मकथाएँ राजनेताओं द्वारा लिखी गई हैं उनमें राजनीतिक प्रसंग ही भरे पड़े हैं, शेष मुद्दों के लिए तो उनमें न के बराबर जगह है।
वरिष्ठ कांग्रेसी राजनेता और दलित साहित्यकार माता प्रसाद की आत्मकथा 'झोपड़ी से राजभवन' ऐसी ही एक कृति है जिसमें उन्होंने अपनी समकालीन महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं का विस्तृत वर्णन तो किया ही है, दैनन्दिन जीवन के छोटे–छोटे राजनीतिक मुद्दों तक की चर्चा की है। तो यह आत्मकथा लेखक की समकालीन कांग्रेसी राजनीतिक गतिविधियों का महत्वपूर्ण दस्तावेज है, जिसमें उत्तर प्रदेश के विधानसभा चुनावों और राजनीतिक घटनाओं का वर्णन तो है ही, स्थानीय और केन्द्रिय स्तर पर कांग्रेस में चल रही गुटबाजी का भी उद्घाटन है।
लम्बे समय तक भारतीय राजनीति पर अपना वर्चस्व बनाये रखने वाले राजनीतिक दल कांग्रेस में शुरू से ही गुटबंदी चल रही थी। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति में कांग्रेस की आन्तरिक गुटबंदी की चर्चा करते हुए माता प्रसाद ने अपनी आत्मकथा में तत्कालीन उत्तर प्रदेश कांग्रेस के दो गुटों का उल्लेख किया है–चन्द्रभानु गुप्त गुट और मोहनलाल गौतम गुट। इस गुटबाजी ने इस हद तक विवाद खड़े किये कि उन्हें निपटाना कांग्रेस के केन्द्रीय नेतृत्व के लिए भी आसान नहीं था। लेखक ने सन् 1957 ई0 की एक घटना की चर्चा की है– गौतम गुट के सदस्य डॉ० सम्पूर्णानन्द उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री थे, उनके विरोधी गुप्ता गुट ने उन्हें नीचा दिखाने के लिए उनकी बहुत सी नीतियों का विरोध करते हुए एक अनुस्मारक विधान सभा में प्रस्तुत किया, जिस पर स्वयं लेखक सहित 98 कांग्रेसी विधायकों के हस्ताक्षर थे। अपने ही दल के विधायकों द्वारा किसी मुख्यमंत्री के विरोध का यह विलक्षण उदाहरण है। गुटबाजी के ही कारण डॉ० सम्पूर्णानन्द जी को मुख्यमंत्री पद से इस्तीफा भी देना पड़ा था। दरअसल दिसम्बर 1960 में गौतम गुट के पं० मुनीश्वरदत्त उपध्याय तथा गुप्ता गुट के स्वयं चन्द्रभानु गुप्त उत्तर प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष पद के उम्मीदवार थे।

''इसी बीच डॉ० सम्पूर्णानन्द जी का एक बयान अखबारों में आ गया, जिसमें कहा गया था, अगर मुनीश्वरदत्त उपाध्याय चुनाव हार जाएँगे तो मैं मुख्यमंत्री पद से इस्तीफा दे दूँगा। श्री मुनीश्वरदत्त उपाध्याय चुनाव हार गए श्री सी०बी० गुप्त चुनाव जीत गए। इसके बाद डॉ० सम्पूर्णानन्द पर मुख्यमंत्री पद से त्याग पत्र देने का दबाव बढ़ने लगा। डॉ० सम्पूर्णानन्द के समर्थक उनको इस्तीफा न देने का दबाव डाल रहे थे। अंत में तत्कालीन प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने डॉ० सम्पूर्णानंद को सलाह दी कि आपका बयान अखबारों में आ गया है इसलिए अब आप का त्याग पत्र देना ही उचित है।''[1]

इतिहास के महत्वपूर्ण व्यक्तित्व और जनता में लोकप्रिय इन राजनेताओं की पारस्परिक ईर्ष्या और उनके अहंकार के कारण ही ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हुईं जिन्हें जानकर समान्य जनता की दृष्टि में उनकी वही छवि नहीं बनी रह सकती जो पहले थी।

यह अविश्वसनीय ज़रूर लगता है कि आज़ादी के मात्र दस साल बाद कांग्रेस की ऐसी दशा होगी कि एक विधायक प्रत्याशी दूसरे विधायक प्रत्याशी पर लोकसभा चुनाव के लिए अपने ही दल के पक्ष में वोट न माँगने के लिए दबाव बनाए और ऐसा न करने पर उसका विरोधी हो जाए; एक विधायक प्रत्याशी का चुनाव प्रभारी अपने ही दल के दूसरे विधायक प्रत्याशी को हरवाने की योजना बनाए, लेकिन यह ऐतिहासिक सत्य है। इतिहास को जाने–समझे बिना हर पीढ़ी अपनी समकालीन स्थितियों को कोसती है और पूर्ववर्ती काल को बेहतर मानती हैं। इन पीढियों का यह भ्रम तब टूटता है जब वे सम्यक इतिहास दृष्टि से विभिन्न कालों का तुलनात्मक मूल्यांकन करती हैं। कांग्रेस में गुटबंदी की यह स्थिति जिला कांग्रेस संगठन स्तर तक ही नहीं, राज्य स्तर पर और राष्ट्रीय स्तर पर भी थी, जिसके फलस्वरूप सन् 1970 ई0 में कांग्रेस 'इंडिकेट' और 'सिंडिकेट' नाम के दो दलों में बँट गया।

कांग्रेस की अन्दरूनी गुटबाज़ी के समानान्तर ही लेखक ने उन घटनाओं का भी यथास्थान उल्लेख किया है जो राजनीति को पतन से बचातीं ही नहीं, उसे आदर्श भी बनाती हैं। 1962 में मछली शहर विधान सभा के कांग्रेस उम्मीदवार रऊफ जाफरी तथा प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के उम्मीदवार केशरी पाण्डेय थे। एक बार चुनाव–प्रचार के समय पेट्रोल पम्प से 48 किलोमीटर दूर केशरी पाण्डेय की गाड़ी का पेट्रोल ख़त्म हो गया। रऊफ जाफरी भी उसी रास्ते से गुज़र रहे थे। उन्हें देखकर केशरी पाण्डेय जी दूर चले गए। रऊफ जाफरी ने उनके ड्राइवर से स्थिति की जानकारी ली और अपनी गाड़ी से पेट्रोल निकालकर उनकी गाड़ी में डलवाया और चले गए। विडंबना देखिए, उस चुनाव में रऊफ जाफरी केशरी पाण्डेय से हार गए। भारतीय राजनीति में ऐसी विनम्र उदारता के उदाहरण विरल हैं।

दलितोद्धार के प्रति दिखावा कांग्रेस की पुरानी प्रवृत्ति रही है– महात्मा गाँधी के समय से लेकर आज तक। ऐसे कई प्रसंगों का उल्लेख लेखक ने अपनी आत्मकथा में किया है। अपना वोट बैंक बढ़ाने के लिए राजनीतिक दल दलित समुदाय के नेताओं को अपने साथ शामिल तो कर लेते हैं, मगर उनका रवैया सामंतवादी–ब्राह्मणवादी ही रहता है। मंडल कांग्रेस कमेटी, मछलीशहर का प्रधानमंत्री रहते हुए एक बार लेखक अपने शुभेच्छु तथा मंडल कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष नरेन्द्र बहादुर सिंह के घर गया तो उनके नौकर ने पत्तल में खाना और अलग रखे एक गिलास में पानी दिया। ऐसे मौके लगातार आते रहे जब लेखक को दलित होने का अहसास कराया जाता। माता प्रसाद लिखते हैं–

''जब मैं विधायक का चुनाव सन् 1957 ई० में लड़ रहा था तब भी कई मौके पर खाने–पीने में भेद–भाव दिखाई पड़ा। किसी सवर्ण या कांग्रेस नेता के यहाँ घर में खाने को होता तो वहाँ पर मेरे लिए दलित बस्ती से थाल–गिलास मंगाकर उसमें खिलाया जाता।''[2]

ऐसे अनेक प्रसंग हैं जहाँ लेखक के साथ जाति–आधारित भेद–भाव हुआ। कहीं तो लेखक ऐसे भेद–भाव से इनकार करता है, कहीं स्वीकार करता है, लेकिन प्रतिकार नहीं करता। यह आश्चर्य है कि इस तरह के भेद–भाव का सामना करते हुए भी वह कांग्रेसजनों की संगति में आजीवन बना रहा। एक ऐसा प्रसंग ज़रूर आता है जहाँ वह जाति–आधारित भेद–भावपरक टिप्पणी का प्रत्यक्ष प्रतिकार नहीं करता, मगर अप्रत्यक्ष रूप से अपनी प्रतिक्रिया ज़रूर व्यक्त करता है। जब बाबू जगजीवन राम और एच०एन० बहुगुणा ने 1977 में कांग्रेस छोड़कर लोकतांत्रिक कांग्रेस पार्टी (सी०एफ०डी०) बना ली और इंदिरा गाँधी से अलग हो गए तो कांग्रेस के बहुत से जन–प्रतिनिधि इसमें शामिल होने लगे। इससे नाराज़ कांग्रेस नेताओं ने एक सम्मेलन में बाबू जगजीवन राम की जाति का नाम लेकर उन्हें गालियाँ दीं–

''कांग्रेस जनों की प्रतिक्रिया से मुझे ठेस लगी। राम नरेश शुक्ल प्रतापगढ़ तथा कई कांग्रेसी नेताओं ने जगजीवन राम को चमार कहकर गाली दिया। मुझे कांग्रेस से नहीं कांग्रेस नेताओं की जातिवादी सोच से बड़ा धक्का लगा। मैं दुखी मन से लखनऊ आया। मैंने भी कांग्रेस से त्याग–पत्र दे दिया। सी०एफ०डी० में शामिल हो गया।''[3]

विचित्र बात है कि लेखक कांग्रेस और कांग्रेस नेताओं को अलग–अलग मानकर चल रहा है। नेताओं से ही तो राजनीतिक दल बनता है। नेता अगर जातिवादी हैं तो उनका दल जातिवाद से अछूता कैसे माना जाएगा ! लेकिन लेखक मानता है।

भारतीयों के प्रति अंग्रेज़ी भेद–भाव और अन्याय–अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करने वाले, स्वराज की माँग करने वाले, भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में बढ़–चढ़कर सक्रिय भूमिका निभाने वाले सबसे बड़े राजनीतिक संगठन का दलितों के प्रति यह व्यवहार शुरू से रहा है। अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए यह हमेशा उन्हें अपने झण्डे के नीचे लाकर उनका उपयोग करता रहा है, जब किसी ने इनकार किया तो वह जातिवादी मान लिया गया। यही कारण है कि बाबा साहब डॉ० भीमराव अम्बेडकर भी इस संगठन के प्रति कभी अपना पूरा भरोसा नहीं जता सके। वे कांग्रेस के अछूतोद्धार सम्बन्धी दावों, घोषणाओं, प्रस्तावों और कार्यक्रमों को 'तुच्छ प्रदर्शन' मात्र मानते थे। अपनी पुस्तक 'कांग्रेस एवं गाँधी ने अस्पृश्यों के लिए क्या किया' में उन्होंने स्वाधीनतापूर्व कांग्रेस के बड़े नेताओं दादाभाई नौरोजी, व्योमेश चन्द्र बनर्जी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि के समाज–सुधार सम्बन्धी दृष्टिकोण तथा भूलाभाई देसाई, राम अय्यर, आसफ अली, एनी बेसेंट आदि के अछूतोद्धार सम्बन्धी विचारों को उद्धृत करते हुए अन्त में उनके खोखलेपन को सिद्ध किया है। वे लिखते हैं–

''कांग्रेस अस्पृश्यता को समाप्त नहीं करना चाहती थी। उसने पृथक स्कूलों तथा पृथक कुओं की व्यवस्था की नीति अपनाई। कांग्रेस ने अस्पृश्योत्थान का प्रस्ताव पास करने के अलावा कुछ नहीं किया और कांग्रेस ऐसे भीरु––साधारण तथा न्यूनतम कार्यक्रम भी लागू नहीं करा पाई और उसने अत्यन्त निर्लज्जता और पश्चाताप के साथ इस कार्यक्रम को त्याग दिया।''[4]

पूरे दलित समुदाय के प्रति कांग्रेस का ऐतिहासिक तथा बाबू जगजीवन राम और चमारों के प्रति उसका तात्कालिक अपमानजनक रवैया देखते हुए भी माता प्रसाद पुनः कांग्रेस में शामिल हो गए, क्योंकि 1 मई सन् 1977 ई0 को बाबू जगजीवन राम ने जनता पार्टी में सी०एफ०डी० का विलय कर दिया। लेकिन यह केवल तात्कालिक कारण था। कांग्रेस में पुनः वापसी लेखक की जितनी विवशता प्रतीत होती है, उससे कहीं अधिक उसकी महत्वाकांक्षा। इसके प्रमाण इस आत्मकथा से ही मिल जाते हैं। बाद में लेखक को उत्तर प्रदेश राज्य कांग्रेस के कई महत्वपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित किया गया और 1988 में कैबिनेट मंत्री भी बनाया गया। मंत्री बनने के पहले पद के प्रति ललक और मंत्री बनने के बाद उसके प्रति रोमांच स्वयं लेखक के शब्दों में–

''मुझे मंत्री होने की आशा थी किन्तु मंत्री न हो पाया लेकिन मेरे मन में पता नहीं क्यों धारणा बन गई थी कि मैं मंत्री बनूंगा। मेरे मंत्री बनने की बात जब कोई हितैषी करता तो मैं झल्ला उठता और ऊपर से उस पर दिखावटी नाराजगी जाहिर करता। रात में खुशी के मारे नींद ही नहीं आ रही थी। मैं परेशान था कि कोई हादसा न हो जाए। मंत्री होने के बाद कैसे–क्या करेंगे, अनेकों

विचार आ रहे थे। वह रात खुशी की बेचैनी में गुजरी।''[5]

मनुष्य होने के नाते पद–प्रतिष्ठा की आकांक्षा स्वाभाविक है, वही आत्मकथाकार में भी है। परिश्रमी होने के नाते प्रतिष्ठित पद पर उनका अधिकार बढ़ भी जाता है। लेकिन अपने राजनीतिक दल की नीतियों को सही साबित करने के लिए किसी अन्य संगठन या व्यक्ति पर मिथ्या आरोप अस्वाभाविक ही नहीं अनुचित भी है। लेखक ने 18 जून, 1987 को लखनऊ न्यायालय में 'माननीय कांशीराम' के विरुद्ध मुकदमा' दायर किया जिसमें उनके द्वारा दिये गए कुछ लिखित, कुछ मौखिक बयानों का प्रमाण देते हुए उन पर जाति–विद्वेष बढ़ाने, साम्प्रदायिक सौहार्द्र और राष्ट्रीय एकता को खतरा पहुँचाने का आरोप लगाया। मुकदमे की कार्यवाही छः महीने भी नहीं चली होगी कि

''मैं 31.07.1988 ई० को प्रदेश में मंत्री हो गया। ऐसी दशा में स्वयं अदालत में जाना मैंने ठीक नहीं समझा। इसलिए मुकदमें की पैरवी छोड़ दिया। इसलिए मुकदमा खारिज हो गया।''[6]

आश्चर्य है कि सामाजिक–राष्ट्रीय एकता–अखण्डता तथा साम्प्रदायिक सौहार्द्र को बचाये रखने के लिए माता प्रसाद ने मा० कांशीराम के विरुद्ध मुकदमा तो दायर कर दिया, मगर मंत्री बनने के बाद मुकदमे की पैरवी करने के बजाय उन्होंने महत्वपूर्ण उद्देश्य को इतनी आसानी से त्याग दिया ! क्या यह एक मंत्री का कर्तव्य था ? या फिर इससे पूर्व का 'कर्तव्य' केवल मंत्री बनने के लिए था !

मंत्री बनने के बाद लेखक ने मा० कांशीराम के विरुद्ध मुकदमे की पैरवी भले ही नहीं की, मगर वह तब सरकार की पैरवी करता हुआ ज़रूर प्रतीत होता है जब अयोध्या में बाबरी मस्जिद गिराए जाने पर लोहता (वाराणसी) में दलित–मुसलमान दंगे के धार्मिक–सामाजिक कारण को आर्थिक कारण सिद्ध करने लगता है। राजनीतिक दलों के लिए दलित केवल 'वोट बैंक' हैं, यह बात 'झोपड़ी से राजभवन' से भी सिद्ध होती है। लेखक माता प्रसाद ने अनजाने ही ऐसे प्रमाण तब उपलब्ध करा दिए जब वे उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमेटी (ई०) के अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति प्रकोष्ठ के चेयरमैन की हैसियत से दिनांक 23.04.1986 को 'कांग्रेस नेताओं को चेतावनी हेतु प्रमुख पत्र' लिखते हैं–

''उत्तर प्रदेश में इस समय बी०एस०पी० हरिजनों में जोरों से बढ़ रही है। पिछले विधान सभा के चुनाव में 60 सीटें ऐसी रही हैं जहाँ पर बी०एस०पी० तृतीय या चतुर्थ स्थानों पर आई थी। बी०एस०पी० में जहाँ अनुसूचित जाति के लोग हैं वहीं पिछड़ी जातियों और अल्पसंख्यकों को भी मिलाया जा रहा है। यह वर्ण और जाति व्यवस्था के विरुद्ध सभी को एक मंच पर लाने का प्रयास है। यदि समय रहते अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़ी जातियों की समस्याओं का समाधान नहीं किया गया तो राजनीति कौन–सी दिशा पकड़ेगी कहा नहीं जा सकता।''[7]

उपर्युक्त उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि लेखक जिस शोषित–पीड़ित समुदाय का सदस्य है उसका उतना पैरोकार नहीं जितना कि एक ऐसे राजनीतिक दल का जिसने अपने जन्म–काल से ही दलितों–पिछड़ों का उद्धार–उत्थान करने का दिखावा मात्र किया है। यह प्रवृत्ति केवल कांग्रेस और उसमें शामिल दलित समुदाय के नेताओं की ही नहीं बल्कि कमोबेश सभी भारतीय राजनीतिक दलों और उसके दलित–पिछड़े प्रतिनिधियों की है। इसी पत्र में आगे लेखक ने दलितों–पिछड़ों के सन्दर्भ में अपने राजनीतिक दल को सचेत करते हुए लिखा है–

''अब यह जागरूक हो गया है। बुद्धिजीवी भी इसमें हैं, यह अनुभव करते हैं कि इनको न्याय नहीं मिल पा रहा है। यदि इनको न्याय नहीं मिलेगा तो यह अपना संरक्षण स्वयं तलाश लेंगे।''[8]

यह ऐतिहासिक तथ्य बहुत दिलचस्प सच्चाई है कि सन् 1885 में कांग्रेस की स्थापना अंग्रेज़ों–भारतीयों के बीच 'सेफ्टी वॉल्व' के रूप में हुई थी, ताकि भारतीय जनता अंग्रेज़ों के विरुद्ध 1857 जैसा कोई और विद्रोह न कर दे। आज़ादी के बाद भी कांग्रेस ने 'सेफ़्टी वॉल्व' की अपनी भूमिका सवर्णों–अस्पृश्यों के बीच बनाए रखी। यहाँ लेखक की चिंता यह नहीं है कि दलितों–पिछड़ों को न्याय कैसे मिले, बल्कि यह है कि अगर उन्हें कांग्रेस से न्याय नहीं मिला तो वे बी०एस०पी० के पाले में चले जाएँगे। इसे राजनीतिक स्वार्थ कहें या समाज के प्रति सहानुभूति, यह प्रश्न शायद अनुत्तरित ही रहता अगर लेखक ने अपनी कूटनीति का एक और उदाहरण न दे दिया होता। वी०पी० सिंह के प्रधानमंत्रित्व काल में लेखक की ओर से अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष राजीव गाँधी को एक छोटा सा पत्र लिखा गया जिसका विषय था 'अनुसूचित जाति के लोगों का ध्यान कांग्रेस पार्टी की ओर आकर्षित करने के लिए पार्टी द्वारा डॉ० अम्बेडकर शताब्दी समारोह का मनाया जाना'। डॉ० अम्बेडकर शताब्दी समारोह के अलावा एक और महत्वपूर्ण संदर्भ इस पत्र में है जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिए –

''आपने लखनऊ में डॉ0 अम्बेडकर विश्वविद्यालय का जो भी शिलान्यास 14 अप्रैल 1989 को किया था। बुद्धिजीवी उससे प्रभावित हैं। भा०ज०पा० के कुछ नेता इसे केंद्रिय यूनिवर्सिटी बनाने की मांग कर रहे हैं। हो सकता है कि श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह इसे मान लें। इसलिए हमारी तरफ से भी केंद्रिय विश्वविद्यालय बनाने की मांग करना चाहिए।''[9]

अर्थात् मुद्दा यह नहीं है कि डॉ० अम्बेडकर विश्वविद्यालय को केन्द्रीय विश्वविद्यालय बनाया जाना चाहिए या नहीं, बल्कि यह एक समस्या है कि भा०ज०पा० ने यह माँग कांग्रेस से पहले कैसे कर दी ! इसलिए इसे केन्द्रीय विश्वविद्यालय बनाने के लिए सरकार पर दबाव बनाने का महत्वपूर्ण श्रेय भा०ज०पा० को अकेले नहीं मिलना चाहिए। या तो उसमें कांग्रेस की भी हिस्सेदारी होनी चाहिए या फिर अकेले कांग्रेस को ही पूरा श्रेय मिलना चाहिए। ये बातें अगर दल के भीतर ही रहतीं तो कुछ न पता चलता, लेकिन अब पाठकों को लेखक माता प्रसाद के प्रति आभारी होना चाहिए कि उन्होंने अपनी आत्मकथा के माध्यम से इस तरह की राजनीतिक चालबाज़ियों का प्रामाणिक उदाहरण प्रस्तुत किया। ख़ैर, यह ज़रूर है कि अपने इस पत्र के बहाने लेखक ने दलितों की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक, प्रशासनिक आदि लगभग सभी समस्याओं और उनके यथासंभव समाधान का उल्लेख किया है।

अरुणाचल प्रदेश का राज्यपाल रहते हुए लेखक ने जिन महत्वपूर्ण कार्यों को पूरा किया उनका परिचय देने के साथ–साथ उसने उस बहुचर्चित विवाद का भी उल्लेख किया है जिसमें लेखक का राज्यपाल पद का कार्यकाल समाप्त होने पर उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे तत्कालीन भा०ज०पा० सरकार द्वारा पद से हटाए जाने का प्रयास किया गया, जबकि राज्यपाल को नियुक्त तथा पदमुक्त करने का अधिकार केवल राष्ट्रपति को है। अपना कार्यकाल समाप्त होने पर माता प्रसाद किसी अन्य राज्यपाल के कार्यभार ग्रहण करने की प्रतीक्षा कर रहे थे, लेकिन भारत सरकार के विशेष सचिव ने उनके सचिव से फ़ोन पर कहा कि राज्यपाल को हेल्थ ग्राउंड पर इस्तीफा दे देना चाहिए ; यह बात उन्हें बहुत ख़राब लगी। उन्होंने इस सन्दर्भ में लिखा है –

''यह सही है कि गृहमंत्री और प्रधानमंत्री की सलाह से ही राज्यपालों की नियुक्ति होती है, किंतु नियोक्ता महामहिम राष्ट्रपति ही होते हैं। मुझे अगर प्रधानमंत्री या गृहमंत्री फोन करके कह देते तो मैं हट जाता। राज्यपाल पद की एक गरिमा होती है। उसे हटने को कोई अधिकारी कहे इसे मैं राज्यपाल पद की गरिमा के अनुकूल नहीं मानता।''[10]

सत्ता में राजनीतिक दल के परिवर्तन के बाद का यह विवाद काफी चर्चित रहा। इसमें भा०ज०पा० की चाहे जितनी किरकिरी हुई हो, राज्यपाल की उससे कम नहीं हुई होगी। यह सही है कि किसी अधिकारी के कहने पर या महामहिम राष्ट्रपति के आदेश न देने के बावजूद पद त्यागना राज्यपाल पद की गरिमा के अनुरूप नहीं है, लेकिन कार्यकाल समाप्त होने के बाद भी पद पर बने रहना उस पद की गरिमा के अनुरूप भी नहीं कहा जा सकता। उचित यही होता कि कार्यकाल समाप्त होते ही महामहिम राज्यपाल श्री माता प्रसाद जी बिना किसी आदेश की प्रतीक्षा किये पद त्याग देते। यही निर्णय एक साहित्कार, वरिष्ठ राजनेता और राज्यपाल पद के अनुरूप होता।

लेकिन 'झोपड़ी से राजभवन' की राजनीति का सच केवल इतना ही नहीं है, जीवन–यापन की न्यूनतम सुविधाओं तक से वंचित एक दलित परिवार में पले–बढ़े माता प्रसाद के लिए क्षेत्र की जनता का विश्वास जीतना और देश के सबसे बड़े राजनीतिक दल में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाना स्पृहणीय उपलब्धि है; और यह सब उन्होंने किसी की कृपा से नहीं, बल्कि अपनी मेहनत, लगन और ईमानदारी के बल पर किया। उत्तर प्रदेश सरकार में मंत्री, अरुणाचल प्रदेश के राज्यपाल तथा कांग्रेस के विभिन्न पदों पर रहते हुए उन्होंने जनता, विशेषतः दलितों के हित में जो महत्वपूर्ण कार्य किये वे अविस्मरणीय हैं। उनके संघर्षपूर्ण जीवन की यह उपलब्धियाँ दलितों के लिए प्रेरणास्रोत हैं। तो कुछ सीमाओं के बावजूद 'झोपड़ी से राजभवन' एक दलित साहित्यकार और वरिष्ठ राजनेता की सफल राजनीतिक आत्मकथा है।

सन्दर्भ सूची

1. माता प्रसाद, झोपड़ी से राजभवन ; नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2002 ; पृष्ठ : 97।
2. वही ; पृष्ठ : 63।
3. वही ; पृष्ठ : 107।
4. डॉ0 बी०आर० अम्बेडकर ; कांग्रेस एवं गाँधी ने अस्पृश्यों के लिए क्या किया (सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड : 16); डॉ० अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण : 2013 (अप्रैल); पृष्ठ : 26।
5. माता प्रसाद ; झोपड़ी से राजभवन ; नमन प्रकाशन, नई दिल्ली; प्रथम संस्करण : 2002 ; पृष्ठ : 137।
6. वही ; पृष्ठ : 169।
7. वही ; पृष्ठ : 189–190।
8. वही ; पृष्ठ : 190।
9. वही ; पृष्ठ : 218।
10. वही ; पृष्ठ : 441।